

षड्जगीता

[षड्जगीता महाभारतके शान्तिपर्वमें विद्यमान है। इस गीताका मुख्य प्रतिपाद्य-विषय पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी तुलनात्मक विवेचना करके उसमें श्रेष्ठतमका अनुसन्धान करना है। धर्मराज युधिष्ठिरने पूर्वपक्षके रूपमें अपने चारों भाइयों तथा विदुरजीसे उनका मत जानकर फिर उत्तरपक्षके रूपमें अपना मत बताया है। फलतः इस छोटी-सी गीतामें जीवनके सभी पक्षोंसे सम्बद्ध तर्कोंका विश्लेषण भी है और निष्कर्षस्वरूप मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) भी बताया गया है। पाँचों पाण्डव और छठे महात्मा विदुरके विचार ग्रथित होनेसे इसे 'षड्जगीता' कहा गया है। इसी षड्जगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः ।

पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातृन् विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[हे जनमेजय!] यह कहकर जब भीष्मजी चुप हो गये, तब राजा युधिष्ठिरने घर जाकर अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुरजीसे प्रश्न किया— ॥ १ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता ।

तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥

लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः धर्म, अर्थ और कामकी ओर होती है। इन तीनोंमें कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है? ॥ २ ॥

कस्मिंश्चात्मा निधातव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै ।

संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद् वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥

इन तीनोंपर विजय पानेके लिये विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिये ?

आप सब लोग हर्ष और उत्साहके साथ इस प्रश्नका यथावतरूपसे उत्तर दें और वही बात कहें, जिसपर आपकी पूरी आस्था हो ॥ ३ ॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान् ।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

तब अर्थकी गति और तत्त्वको जाननेवाले प्रतिभाशाली विदुरजीने धर्मशास्त्रका स्मरण करके सबसे पहले कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा ।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥ ५ ॥

विदुरजी बोले—[राजन्!] बहुत-से शास्त्रोंका अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्माकी सम्पत्ति हैं ॥ ५ ॥

एतदेवाभिपद्यस्व मा तेऽभूच्चलितं मनः ।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे ॥ ६ ॥

[युधिष्ठिर!] तुम इन्हींको प्राप्त करो। इनकी ओरसे तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म और अर्थकी जड़ ये ही हैं। मेरे मतमें ये ही परम पद हैं ॥ ६ ॥

धर्मैणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥ ७ ॥

धर्मसे ही ऋषियोंने संसार-समुद्रको पार किया है। धर्मपर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्मसे ही देवताओंकी उन्नति हुई है और धर्ममें ही अर्थकी भी स्थिति है ॥ ७ ॥

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥

राजन्! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थको मध्यम बताया जाता है

और काम सबकी अपेक्षा लघु है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ८ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यथात्मना ।

तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि ॥ ९ ॥

अतः मनको वशमें करके धर्मको अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः ।

पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[जनमेजय!] विदुरजीकी बात समाप्त होनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले अर्थशास्त्रविशारद अर्जुनने युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर कहा ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।

कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह कर्मभूमि है। यहाँ जीविकाके साधनभूत कर्मोंकी ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भौति-भौतिके शिल्प—ये सब अर्थप्राप्तिके साधन हैं ॥ ११ ॥

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।

न हृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ॥ १२ ॥

अर्थ ही समस्त कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक है। अर्थके बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १२ ॥

विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम् ।

कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

धनवान् मनुष्य धनके द्वारा उत्तम धर्मका पालन और अजितेन्द्रिय

पुरुषोंके लिये दुर्लभ कामनाओंकी प्राप्ति कर सकता है ॥ १३ ॥

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः ।

अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ १४ ॥

श्रुतिका कथन है कि धर्म और काम अर्थके ही दो अवयव हैं। अर्थकी सिद्धिसे उन दोनोंकी भी सिद्धि हो जायगी ॥ १४ ॥

तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः ।

ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते ॥ १५ ॥

जैसे सब प्राणी सदा ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार उत्तम जातिके मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुषकी उपासना किया करते हैं ॥ १५ ॥

जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः ।

मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक् ॥ १६ ॥

जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले जितेन्द्रिय संयतचित्त शरीरमें पंक धारण किये मुण्डितमस्तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी अर्थकी अभिलाषा रखकर पृथक्-पृथक् निवास करते हैं ॥ १६ ॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः ।

विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः ॥ १७ ॥

अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः ।

कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः ॥ १८ ॥

सब प्रकारके संग्रहसे रहित, संकोचशील, शान्त, गेरुआ वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धनकी अभिलाषा करते देखे गये हैं। कुछ दूसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं, जो स्वर्ग पानेकी इच्छा रखते हैं और कुलपरम्परागत नियमोंका पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान कर रहे हैं; किंतु वे भी धनकी इच्छा रखते हैं ॥ १७-१८ ॥

आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता ॥ १९ ॥

दूसरे बहुत-से आस्तिक-नास्तिक संयम-नियमपरायण पुरुष हैं, जो अर्थके इच्छुक होते हैं। अर्थकी प्रधानताको न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थकी प्रधानताका ज्ञान प्रकाशमय है ॥ १९ ॥

भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान्।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम्।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः ॥ २० ॥

धनवान् वही है, जो अपने भृत्योंको उत्तम भोग और शत्रुओंको दण्ड देकर उनको वशमें रखता है। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! मुझे तो यही मत ठीक जँचता है। अब आप इन दोनोंकी बात सुनिये। इनकी वाणी कण्ठतक आ गयी है अर्थात् ये दोनों भाई बोलनेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम्।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[राजन्!] तदनन्तर धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपनी उत्तम बात इस प्रकार उपस्थित की ॥ २१ ॥

नकुलसहदेवावूचतुः

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि ॥ २२ ॥

नकुल-सहदेव बोले—[महाराज!] मनुष्यको बैठते, सोते, घूमते-फिरते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरहके उपायोंसे धनकी आयको सुदृढ़ बनाना चाहिये ॥ २२ ॥

अस्मिन्स्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये ।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ २३ ॥

धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो जानेपर मनुष्य संसारमें अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभीको प्रत्यक्ष अनुभव है—इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः ।
तद्धि त्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह ॥ २४ ॥

जो धन धर्मसे युक्त हो और जो धर्म धनसे सम्पन्न हो, वह निश्चितरूपसे आपके लिये अमृतके समान होगा, यह हम दोनोंका मत है ॥ २४ ॥

अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः ।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः ॥ २५ ॥

निर्धन मनुष्यकी कामना पूर्ण नहीं होती और धर्महीन मनुष्यको धन भी कैसे मिल सकता है। जो पुरुष धर्मयुक्त अर्थसे वंचित है, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं ॥ २५ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना ।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि ॥ २६ ॥

इसलिये मनुष्य अपने मनको संयममें रखकर जीवनमें धर्मको प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही फिर धनका साधन करे; क्योंकि धर्मपरायण पुरुषपर ही समस्त प्राणियोंका विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास करने लगते हैं, तब मनुष्यका सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

धर्म समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम् ।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम् ॥ २७ ॥

अतः सबसे पहले धर्मका आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धनका

संग्रह करे। इसके बाद दोनोंकी अनुकूलता रखते हुए कामका सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करनेसे मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

विरेमतुस्तु तद् वाक्यमुक्त्वा तावद्विनोः सुतौ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[जनमेजय!] इतना कहकर नकुल और सहदेव चुप हो गये। तब भीमसेनने इस तरह कहना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

भीमसेन उवाच

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते ॥ २९ ॥

भीमसेन बोले—[धर्मराज!] जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमानेकी इच्छा होती है और न धर्म करनेकी ही। कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिये त्रिवर्गमें काम ही सबसे बढ़कर है ॥ २९ ॥

कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ ३० ॥

किसी-न-किसी कामनासे संयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्यामें मन लगाते हैं। फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं। वायु पीकर मन और इन्द्रियोंका संयम करते हैं ॥ ३० ॥

वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥ ३१ ॥

कामनासे ही लोग वेद और उपवेदोंका स्वाध्याय करते तथा उसमें पारंगत विद्वान् हो जाते हैं। कामनासे ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म,

दान और प्रतिग्रहमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ ३१ ॥

वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा ।

देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३२ ॥

व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव-सम्बन्धी कार्य करनेवाले लोग भी कामनासे ही अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ ३२ ॥

समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः ।

कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन सन्ततम् ॥ ३३ ॥

कामनासे युक्त हुए दूसरे मनुष्य समुद्रमें भी घुस जाते हैं। कामनाके विविध रूप हैं तथा सारा कार्य ही कामनासे व्याप्त है ॥ ३३ ॥

नास्ति नासीन्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात् परम् ।

एतत् सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ ॥ ३४ ॥

महाराज! सभी प्राणी कामना रखते हैं। उससे भिन्न कामनारहित प्राणी न कहीं है, न कभी था और न भविष्यमें होगा ही; अतः यह काम ही त्रिवर्गका सार है। धर्म और अर्थ भी इसीमें स्थित हैं ॥ ३४ ॥

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः ।

श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः ।

श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः ॥ ३५ ॥

जैसे दहीका सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थका सार काम है। जैसे खलीसे श्रेष्ठ तेल है, तक्रसे श्रेष्ठ घी है और वृक्षके काष्ठसे श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनोंसे श्रेष्ठ काम है ॥ ३५ ॥

पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः ।

कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः ॥ ३६ ॥

जैसे फूलसे उसका मधु-तुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म

और अर्थसे काम श्रेष्ठ माना गया है। काम धर्म और अर्थका कारण है, अतः वह धर्म और अर्थरूप है ॥ ३६ ॥

नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्था-

नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः ।

नाकामतो विविधा लोकचेष्टा

तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः ॥ ३७ ॥

बिना किसी कामनाके ब्राह्मण अच्छे अन्नका भी भोजन नहीं करते और बिना कामनाके कोई ब्राह्मणोंको धनका दान नहीं करते हैं। जगत्के प्राणियोंकी जो नाना प्रकारकी चेष्टा होती है, वह बिना कामनाके नहीं होती; अतः त्रिवर्गमें कामका ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है ॥ ३७ ॥

सुचारुवेषाभिरलंकृताभि-

र्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः ।

रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं

कामो हि राजन् परमो भवेन्नः ॥ ३८ ॥

अतः राजन्! आप कामका अवलम्बन करके सुन्दर वेषवाली, आभूषणोंसे विभूषित तथा देखनेमें मनोहर एवं मदमत्त युवतियोंके साथ विहार कीजिये। हमलोगोंको इस जगत्में कामको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य

मा भूद् विचारस्तव धर्मपुत्र ।

स्यात् संहितं सद्भिरफल्गुसारं

ममेति वाक्यं परमानृशंसम् ॥ ३९ ॥

धर्मपुत्र! मैंने गहराईमें पैठकर ऐसा निश्चय किया है। मेरे इस कथनमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरा यह

वचन उत्तम, कोमल, श्रेष्ठ, तुच्छतारहित एवं सारभूत है; अतः श्रेष्ठ पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
 यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः ।
 तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
 स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥ ४० ॥

मेरे विचारसे धर्म, अर्थ और काम तीनोंका एक साथ ही सेवन करना चाहिये। जो इनमेंसे एकका ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है, जो दोके सेवनमें निपुण है, उसे मध्यम श्रेणीका बताया गया है और जो त्रिवर्गमें समानरूपसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है ॥ ४० ॥

प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो
 विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः ।
 ततो वचः संग्रहविस्तरेण
 प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान्, सुहृद्, चन्दनसारसे चर्चित तथा विचित्र मालाओं और आभूषणोंसे विभूषित भीमसेन उन वीरबन्धुओंसे संक्षेप और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो
 वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक् ।
 उवाच वाचावितथं स्मयन् वै
 लब्धश्रुतां धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ ४२ ॥

जिन्होंने महात्माओंके मुखसे धर्मका उपदेश सुना है, उन धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक पूर्व वक्ताओंके वचनोंपर भलीभाँति विचार करके मुसकराते हुए यह यथार्थ बात कही ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निःसंशयं

निश्चितधर्मशास्त्राः

सर्वे

भवन्तो

विदितप्रमाणाः ।

विज्ञातुकामस्य

ममेह

वाक्य-

मुक्तं

यद्वै

नैष्ठिकं

तच्छ्रुतं मे ।

इदं

त्ववश्यं

गदतो

ममापि

वाक्यं

निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—[बन्धुओ!] इसमें संदेह नहीं कि आपलोग धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करके एक निश्चयपर पहुँच चुके हैं। आपलोगोंको प्रमाणोंका भी ज्ञान प्राप्त है। मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिये मेरे सामने यहाँ आपलोगोंने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यानसे सुना है। अब आप, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस बातको भी अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये ॥ ४३ ॥

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये

नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे ।

विमुक्तदोषः

समलोष्टकाञ्चनो

विमुच्यते

दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥ ४४ ॥

जो न पापमें लगा हो और न पुण्यमें, न तो अर्थोपार्जनमें तत्पर हो न धर्ममें, न काममें ही। वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित मनुष्य दुःख और सुखको देनेवाली सिद्धियोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टीके ढेले और सोनेमें उसका समान भाव हो जाता है ॥ ४४ ॥

भूतानि

जातिस्मरणात्मकानि

जराविकारैश्च

समन्वितानि ।

भूयश्च

तैस्तैः

प्रतिबोधितानि

मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ॥ ४५ ॥

जो पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेवाले तथा वृद्धावस्थाके

विकारसे युक्त हैं, वे मनुष्य नाना प्रकारके सांसारिक दुःखोंके उपभोगसे निरन्तर पीड़ित हो मुक्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, परंतु हमलोग उस मोक्षके विषयमें जानते ही नहीं हैं ॥ ४५ ॥

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच ।

बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च ॥ ४६ ॥

स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीका कथन है कि जिसके मनमें आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। आसक्तिशून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं; अतः मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे ॥ ४६ ॥

एतत् प्रधानं च न कामकारो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।

भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते
विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४७ ॥

इस प्रकार विचार करना ही मोक्षका प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं। विधाताने मुझे जिस कार्यमें लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूँ। विधाता सभी प्राणियोंको विभिन्न कार्योंके लिये प्रेरित करता है। अतः आप सब लोगोंको ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है ॥ ४७ ॥

न कर्मणाज्जोत्यनवाप्यमर्थं
यद्भावि तद्वै भवतीति वित्त ।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं
तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम् ॥ ४८ ॥

मनुष्य कर्मद्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता। जो होनहार है,

वही होती है; इस बातको तुम सब लोग जान लो। मनुष्य त्रिवर्गसे रहित होनेपर भी आवश्यक पदार्थको प्राप्त कर लेता है; अतः मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) ही जगत्का वास्तविक कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदग्र्यं वचनं मनोनुगं
समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत्।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते
कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम् ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[जनमेजय!] राजा युधिष्ठिरकी कही हुई बात बड़ी उत्तम, युक्तियुक्त और मनमें बैठनेवाली हुई। उसे पूर्णरूपसे समझकर वे सब भाई बड़े प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे। उन सबने कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरको अंजलि बाँधकर प्रणाम किया ॥ ४९ ॥

सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां

मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम्।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां
गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ॥ ५० ॥

जनमेजय! युधिष्ठिरकी उस वाणीमें किसी प्रकारका दोष नहीं था। वह अत्यन्त सुन्दर स्वर और व्यंजनके संनिवेशसे विभूषित तथा मनके अनुरूप थी, उसे सुनकर समस्त राजाओंने युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीता सम्पूर्णा ॥